

अध्याय ६

श्रम-शक्ति का क्रय और विक्रय

जिस द्रव्य को पूंजी में बदला जाना है, उसके मूल्य में जो परिवर्तन होता है, वह खुद द्रव्य में ही नहीं हो सकता, क्योंकि खरीद और भुगतान के साधन का काम करते समय द्रव्य जिस पण्य को खरीदता है या जिस पण्य का भुगतान करता है, उसके दाम को मूर्त रूप देने के सिवा और कुछ नहीं करता, और नकदी की शक्ल में द्रव्य पथराया हुआ मूल्य होता है, जो कभी नहीं बदलता।^{३८} न ही यह परिवर्तन परिचलन की दूसरी क्रिया में—यानी पण्य के फिर से बेचे जाने के दौरान—हो सकता है, क्योंकि वह क्रिया इससे अधिक कुछ नहीं करती कि वस्तु को उसके शारीरिक रूप से पुनः उसके द्रव्य-रूप में बदल देती है। इसलिए यह परिवर्तन पहली क्रिया $M-C$ के द्वारा खरीदे नये पण्य में होना चाहिए, मगर वह उसके मूल्य में नहीं हो सकती, क्योंकि विनिमय समतुल्यों का होता है और पण्य के दाम का भुगतान उसके पूरे मूल्य के अनुसार होता है। अतएव हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि यह परिवर्तन स्वयं पण्य के उपयोग-मूल्य से, यानी उसके उपभोग से, उत्पन्न होता है। किसी पण्य के उपभोग से मूल्य निकालने के लिए जरूरी है कि हमारे मित्र, श्रियुत धन्नासेठ इतने भाग्यवान हों कि उनको परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही, यानी मंडी में ही, एक ऐसा पण्य मिल जाये, जिसके उपयोग-मूल्य में मूल्य पैदा करने का विशेष गुण हो और इसलिए खुद ही जिसका वास्तविक उपभोग श्रम को साकार रूप देता और इस तरह मूल्य का सृजन करता हो। द्रव्य के मालिक को सचमुच मंडी में श्रम करने की सामर्थ्य—अथवा श्रम-शक्ति—के रूप में एक ऐसा विशेष पण्य मिल जाता है।

श्रम-शक्ति—अथवा श्रम करने की सामर्थ्य—से हमारा अभिप्राय मनुष्य में पायी जाने वाली उन मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं के योग से है, जिनका वह किसी भी प्रकार का उपयोग-मूल्य पैदा करने के समय प्रयोग करता है।

लेकिन हमारा द्रव्य-मालिक पण्य के रूप में बिक्री के लिए पेश की गयी श्रम-शक्ति प्राप्त कर सके, इसके लिए कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है। खुद पण्यों के विनिमय के स्वभाव के फलस्वरूप जो संबंध उत्पन्न हो जाते हैं, विनिमय के साथ उनके सिवा निर्भरता के और कोई संबंध जुड़े हुए नहीं होते। इस अभिधारणा के अनुसार श्रम-शक्ति केवल उसी समय और वहीं तक पण्य के रूप में मंडी में आ सकती है, जब और जहां तक वह व्यक्ति, जिसकी वह श्रम-शक्ति है, उसे पण्य के रूप में बिक्री के लिए पेश करे या बेचे। उसके ऐसा करने के लिए जरूरी है कि यह श्रम-शक्ति स्वयं उसके अधीन हो और श्रम करने की अपनी सामर्थ्य

^{३८} “द्रव्य के रूप में... पूंजी से कोई मुनाफ़ा उत्पन्न नहीं होता।” (Ricardo, *Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 267.)

का, यानी खुद अपने शरीर का, वह पूर्ण स्वामी हो।³⁹ यह व्यक्ति और द्रव्य का मालिक मंडी में मिलते हैं और एक दूसरे के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करते हैं। बस अंतर केवल इतना होता है कि एक ग्राहक होता है और दूसरा विक्रेता। इसलिए कानून की नज़रों में दोनों बराबर होते हैं। इसलिए कि यह संबंध कायम रहे, यह जरूरी है कि श्रम-शक्ति का मालिक उसे केवल एक निश्चित काल के लिए ही बेचे, क्योंकि यदि वह उसे एक बार हमेशा के लिए बेच डालेगा, तो वह असल में अपने आपको बेच देगा और स्वतंत्र मनुष्य से गुलाम बन जायेगा और पण्य का मालिक न रहकर खुद पण्य बन जायेगा। अपनी श्रम-शक्ति को उसे सदा अपनी संपत्ति, स्वयं अपना पण्य समझना चाहिए, और यह वह केवल उसी समय समझ सकता है, जब वह अपनी श्रम-शक्ति को अस्थायी तौर पर और एक निश्चित काल के लिए ही ग्राहक को सौंपे। केवल इसी तरह वह अपनी श्रम-शक्ति पर अपने स्वामित्व के अधिकार से वंचित होने से बच सकता है।⁴⁰

यदि द्रव्य के मालिक को मंडी में श्रम-शक्ति को पण्य के रूप में पाना है, तो उसकी दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि मजदूर अपने श्रम से बनाये गये पण्यों को बेचने की स्थिति में न हो, बल्कि इसके बजाय वह खुद उस श्रम-शक्ति को ही पण्य के रूप में विक्री के वास्ते पेश करने के लिए मजबूर हो, जो केवल उसके सजीव व्यक्तित्व में ही निवास करती है।

यदि कोई आदमी श्रम-शक्ति के अलावा कोई और पण्य बेचना चाहता है, तो जाहिर है कि उसके पास उत्पादन के साधन होने चाहिए, जैसे कि कच्चा माल, औज़ार, वगैरह। बिना

³⁹ प्राचीन काल के रीति-रिवाजों और संस्थाओं के विश्वकोशों में हमें इस तरह की बका-वास मिलती है कि प्राचीन काल में पूजी का पूरा विकास हो चुका था और “बस स्वतंत्र मजदूर और उधार की व्यवस्था का अभाव था”। इस दृष्टि से मोमज़न ने भी अपने ‘रोम के इतिहास’ में एक के बाद एक भद्दी भूल की है।

⁴⁰ इसीलिए अनेक देशों में कानून बनाकर श्रम के इक़रारनामों के लिए एक अधिकतम अवधि निश्चित कर दी गयी है। जहां कहीं भी स्वतंत्र श्रम का नियम है, वहां इस तरह के करारों को खत्म करने की पद्धति का नियमन कानूनों के द्वारा होता है। कुछ राज्यों में, विशेषकर मेक्सिको में (अमरीकी गृह-युद्ध के पहले उन प्रदेशों में भी, जो मेक्सिको से ले लिये गये थे, और सच पूछिये, तो कूज़ा की क्रांति के समय तक डेन्यूब नदी के प्रांतों में भी), peonage ऋण-सेवा के रूप में छिपी हुई गुलामी कायम है। ऋणों के जरिये, जिनका श्रम के रूप में भुगतान करना पड़ता है और जो पीढ़ी दर पीढ़ी बने रहते हैं, न केवल स्वयं मजदूर, बल्कि उसका परिवार भी de facto [व्यवहार में] दूसरे व्यक्तियों और दूसरे परिवारों की संपत्ति बन जाता है। हुआरेस ने ऋण-सेवा की यह प्रथा समाप्त कर दी थी। पर तथाकथित सम्राट मैक्सीमिलियन ने एक फ़रमान जारी करके उसे फिर से बहाल कर दिया। वाशिंगटन में प्रतिनिधि-सभा की बैठक में इस फ़रमान की ठीक ही कड़े शब्दों में निंदा की गयी और कहा गया कि यह मेक्सिको में फिर से गुलामी की प्रथा कायम करने का फ़रमान है। हेगेल ने लिखा है: “मैं अपनी विशिष्ट शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं और क्षमताओं का उपयोग करने का अधिकार एक निश्चित काल के लिए किसी और को सौंप सकता हूं, क्योंकि इस प्रतिबंध के फलस्वरूप ये योग्यताएं और क्षमताएं मेरे संपूर्ण व्यक्तित्व से अलग हो जाती हैं। लेकिन यदि मैं अपना सारा श्रम-काल और अपना पूरा काम दूसरे को सौंप दूं, तो मैं खुद सारतत्त्व को, दूसरे शब्दों में, अपनी सामान्य सक्रियता और वास्तविकता को, अपने व्यक्तित्व को, दूसरे की संपत्ति बना दूंगा।” (Hegel, *Philosophie des Rechts*, Berlin, 1840, S. 104, § 67.)

चमड़े के जूते नहीं बनाये जा सकते। इसके अलावा उसे जीवन-निर्वाह के साधनों की भी जरूरत होती है। भावी उत्पाद के सहारे, या ऐसे उपयोग-मूल्यों के सहारे, जो अभी पूरी तरह तैयार नहीं हुए हैं, कोई जिंदा नहीं रह सकता, यहां तक कि "भविष्य में महानता का दावा करनेवाला संगीतकार" भी उनके सहारे जीवित नहीं रह सकता; और जबसे मनुष्य संसार के रंगमंच पर उतरा है, वह उस पहले क्षण से ही उत्पादन करने के पहले और उत्पादन करने के दौरान सदा उपभोक्ता रहा है, और आगे भी रहेगा। एक ऐसे समाज में, जहां पैदावार की सभी चीजें पण्यों का रूप धारण कर लेती हैं, उत्पादन के बाद पण्यों का बिकना जरूरी होता है; केवल बिक जाने के बाद ही वे अपने उत्पादक की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक हो सकते हैं। उनके उत्पादन के लिए जो समय आवश्यक होता है, उसमें वह समय भी जोड़ दिया जाता है, जो उनकी बिक्री के वास्ते जरूरी होता है।

अतः द्रव्य का मालिक अपने द्रव्य को पूंजी में बदल सके, इसके लिए जरूरी है कि मंडी में उसकी स्वतंत्र मजदूर से मुलाकात हो। और इस मजदूर को दो मानों में स्वतंत्र होना चाहिए—एक तो इस माने में कि स्वतंत्र मनुष्य के रूप में वह अपनी श्रम-शक्ति को खुद अपने पण्य के रूप में बेच सकता हो, और दूसरे, इस माने में कि उसके पास बेचने के लिए और कोई पण्य न हो, और अपनी श्रम-शक्ति को मूल रूप देने के लिए उसे जिन चीजों की जरूरत होती है, उनका उसके पास पूर्ण अभाव हो।

द्रव्य के मालिक को इस सवाल में कोई दिलचस्पी नहीं है कि मंडी में उसकी इस स्वतंत्र मजदूर से क्यों मुलाकात हो जाती है। वह तो श्रम की मंडी को पण्यों की आम मंडी की ही एक शाखा समझता है। फिलहाल हमें भी इस सवाल में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। द्रव्य का मालिक व्यवहार में इस तथ्य से चिपका हुआ है, हमने सैद्धांतिक ढंग से उसे स्वीकार कर लिया है। किंतु एक बात स्पष्ट है, वह यह कि प्रकृति ने एक ओर, द्रव्य या पण्यों के मानिकों को और दूसरी ओर, ऐसे लोगों को, जिनके पास अपनी श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है, इन दो तरह के लोगों को पैदा नहीं किया है। इस संबंध का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है, और न उसका कोई ऐसा सामाजिक आधार ही है, जो सभी ऐतिहासिक कालों में समान रूप से पाया जाता हो। स्पष्ट ही, यह भूतकाल के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, बहुत सी आर्थिक क्रांतियों का फल है और सामाजिक उत्पादन के पुराने रूपों के एक पूरे क्रम के विनाश का नतीजा है।

इसी प्रकार उन आर्थिक प्रवर्गों पर भी इतिहास की छाप पड़ी हुई है, जिनपर हम पीछे विचार कर चुके हैं। किसी उत्पाद के पण्य बनने के लिए जरूरी है कि कुछ निश्चित ढंग की ऐतिहासिक परिस्थितियां मौजूद हों। उसके लिए आवश्यक है कि उत्पाद खुद उत्पादक के जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में न पैदा किया जाये। यदि हमने थोड़ा और आगे बढ़कर इसकी खोज की होती कि समस्त उत्पाद या कम से कम उत्पाद का अधिकांश किन परिस्थितियों में पण्यों का रूप धारण कर लेता है, तो हमें पता चलता कि यह बात केवल एक बहुत खास ढंग के उत्पादन में ही होती है; और वह है पूंजीवादी उत्पादन। परंतु इस प्रकार की खोज पण्यों के विश्लेषण के क्षेत्र के बाहर चली जाती। पण्यों का उत्पादन और परिचलन उस वक्त भी हो सकता है, जब अधिकतर वस्तुओं का उत्पादन उनके उत्पादकों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता हो, जब वे पण्यों में न बदली जाती हों और इसलिए जब सामाजिक उत्पादन के बहुत बड़े क्षेत्र में और बहुत हद तक विनिमय-मूल्य का

प्रभुत्व कायम न हुआ हो। पैदावार की चीजों के पण्यों के रूप में सामने आने के लिए यह जरूरी है कि सामाजिक श्रम-विभाजन का ऐसा विकास हो चुका हो, जिसमें विनिमय-मूल्य से उपयोग-मूल्य का वह अलगाव, जो पहले-पहल अदला-बदली से आरंभ हुआ था, अब मुकम्मिल हो गया हो। लेकिन इस प्रकार का विकास तो समाज के बहुत से रूपों में समान तौर पर पाया जाता है, जिनकी दूसरी बातों में बहुत अलग-अलग ढंग की ऐतिहासिक विशेषताएं होती हैं।

दूसरी ओर, यदि हम द्रव्य पर विचार करें, तो द्रव्य के अस्तित्व का अर्थ यह होता है कि पण्यों का विनिमय एक खास अवस्था में पहुंच गया है। द्रव्य पण्यों के केवल समतुल्य के रूप में, या परिचलन के साधन के रूप में, या भुगतान के साधन के रूप में, या अपसंचित कोष की शक्ल में, या सार्विक द्रव्य के रूप में जो तरह-तरह के अलग-अलग काम करता है, उनमें से जब जिस खास काम का अधिक विस्तार हो जाता है और जब जो अपेक्षाकृत प्रधानता प्राप्त कर लेता है, तब उसके अनुसार यह पता चलता है कि सामाजिक उत्पादन की क्रिया किस खास अवस्था में पहुंच गयी, है। फिर भी हमें अनुभव से मालूम है कि पण्यों का अपेक्षाकृत आदिम ढंग का परिचलन इन तमाम रूपों के लिए पर्याप्त होता है। पूंजी की बात दूसरी है। उसके अस्तित्व के लिए जो ऐतिहासिक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, वे महज द्रव्य और पण्यों के परिचलन के साथ ही पैदा नहीं हो जातीं। पूंजी केवल उसी समय जन्म ले सकती है, जब उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक की अपनी श्रम-शक्ति बेचनेवाले स्वतंत्र मजदूर से मंडी में भेंट होती है। और इस एक ऐतिहासिक परिस्थिति में संसार का इतिहास अंतर्निहित है। इसलिए पूंजी अपना प्रथम दर्शन देने के साथ ही यह घोषणा कर देती है कि सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में एक नये युग का श्रीगणेश हो गया है।⁴¹

अब हमें श्रम-शक्ति नामक इस विचित्र पण्य पर थोड़ी और गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। अन्य सब पण्यों की तरह इस पण्य का भी मूल्य होता है।⁴² वह मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

अन्य प्रत्येक पण्य की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिए आवश्यक और इसलिए इस विशेष वस्तु के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है। जहां तक श्रम-शक्ति में मूल्य होता है, वहां तक वह अपने में निहित समाज के औसत श्रम की एक निश्चित मात्रा से अधिक और किसी चीज का प्रतिनिधित्व नहीं करती। केवल एक जीवित व्यक्ति की सामर्थ्य अथवा शक्ति के रूप में ही श्रम-शक्ति का अस्तित्व होता है। इसलिए श्रम-शक्ति का अस्तित्व जीवित व्यक्ति के अस्तित्व पर ही निर्भर है। व्यक्ति पहले से मौजूद हो, तो श्रम-शक्ति के उत्पादन का अर्थ है उस व्यक्ति के द्वारा खुद अपना

⁴¹ इसलिए पूंजीवादी युग की यह खास विशेषता होती है कि श्रम-शक्ति खुद मजदूर की आंखों में एक ऐसे पण्य का रूप धारण कर लेती है, जो उसकी संपत्ति होता है। चुनावे उसका श्रम मजदूरी के बदले में किया जानेवाला श्रम बन जाता है। दूसरी ओर, केवल इसी क्षण से श्रम का उत्पाद सार्विक ढंग से पण्य बनता है।

⁴² “दूसरी तमाम चीजों की तरह किसी मनुष्य का मूल्य या कीमत उसका दाम होती है; कहने का मतलब यह कि वह उतनी होती है, जितना उसकी शक्ति के उपयोग के लिए दिया जाता है।” (Th. Hobbes, *Leviathan*, Works, edit. Molesworth, London, 1839-1844. Vol. III, p. 76.)

उत्पादन, या यूँ कहिये कि अपना जीवन-निर्वाह। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है। इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल जीवन-निर्वाह के इन साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति का मूल्य मजदूर के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य होता है। लेकिन श्रम-शक्ति केवल अपने प्रयोग से ही वास्तविकता बनती है; काम के द्वारा ही वह सक्रिय होती है। किंतु उसमें मानव की मांस-पेशियों, स्नायुओं और मस्तिष्क, आदि की एक निश्चित मात्रा खर्च हो जाती है, और इसका फिर वापस लाया जाना जरूरी होता है। इस बड़े हुए खर्च के लिए बड़ी हुई आय की आवश्यकता होती है।⁴³ यदि श्रम-शक्ति का मालिक आज काम करता है, तो उसमें कल फिर से वही क्रिया पहले जैसे स्वास्थ्य और बल के साथ दोहराने की क्षमता होनी चाहिए। अतः उसके जीवन-निर्वाह के साधन इतने होने चाहिए कि वे उसे श्रम करनेवाले व्यक्ति के रूप में उसकी सामान्य अवस्था में जिंदा रख सकें। उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएं, जैसे भोजन, कपड़ा, ईंधन और रहने का घर, आदि, जिस देश में वह रहता है, उसके जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग प्रकार की होती हैं। दूसरी ओर, उसकी तथाकथित जरूरी आवश्यकताओं की संख्या और विस्तार और उन्हें पूरा करने के ढंग भी खुद ऐतिहासिक विकास का फल होते हैं और इसलिए बहुत हद तक देश की सभ्यता के विकास पर निर्भर करते हैं। खास तौर पर वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि स्वतंत्र मजदूरों के वर्ग का किन परिस्थितियों में और इसलिए किन आदतों के साथ तथा कितने आराम की हालत में निर्माण हुआ है।⁴⁴ अतएव अन्य पण्यों के विपरीत, श्रम-शक्ति के मूल्य-निर्धारण में एक ऐतिहासिक तथा नैतिक तत्व भी काम करता है। फिर भी किसी खास देश में और किसी निश्चित काल में हमें मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों की जरूरी औसत मात्रा की व्यावहारिक जानकारी होती है।

श्रम-शक्ति का मालिक नश्वर है। इसलिए अगर उसे लगातार मंडी में आते रहना है—और द्रव्य के लगातार पूंजी में बदलते रहने के लिए यह बात जरूरी है—तो श्रम-शक्ति के विक्रेता को अपने को उसी तरह शाश्वत बनाना चाहिए, “जिस तरीके से हर जीवित प्राणी अपने को शाश्वत बनाता है, यानी संतान को जन्म देकर”।⁴⁵ जो श्रम-शक्ति घिस जाने या मजदूर की मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप मंडी से हटा ली जाती है, उसके स्थान पर कम से कम उतनी ही मात्रा में नयी श्रम-शक्ति बराबर आती रहनी चाहिए। इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों के कुल जोड़ में उन साधनों को भी शामिल करना पड़ेगा, जो मजदूर के प्रतिस्थापकों के लिए, यानी उसके बच्चों के लिए, जरूरी हैं, ताकि इस विचित्र पण्य के मालिकों की यह नसल मंडी में बराबर मौजूद रहे।⁴⁶

⁴³ चुनांचे रोमनों के यहां खेतों में काम करनेवाले गुलामों के जमादार को “काम करनेवाले गुलामों की अपेक्षा कम भोजन मिलता था, कारण कि उसका काम गुलामों से हल्का था।” (Th. Mommsen, *Römische Geschichte*, 1856, S. 810.)

⁴⁴ देखिये W. Th. Thornton, *Overpopulation and its Remedy*, London, 1846.

⁴⁵ पैटी।

⁴⁶ “उसका (श्रम का) स्वाभाविक दाम... जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा सुख के साधनों की वह मात्रा होता है, जो देश के जलवायु तथा आदतों को देखते हुए

मानव-शरीर को इस तरह बदलने के लिए कि उसमें उद्योग की किसी खास शाखा के लिए ज़रूरी निपुणता और हस्तकौशल पैदा हो जाये और वह एक खास तरह की श्रम-शक्ति बन जाये, एक खास तरह की शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, और उसमें भी न्यूनाधिक मात्रा में पण्यों के रूप में एक समतुल्य खर्च होता है। यह मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि श्रम-शक्ति का स्वरूप कितना कम या अधिक संश्लिष्ट है। इस शिक्षा का खर्च (जो साधारण श्रम-शक्ति की सूरत में बहुत ही कम होता है) *pro tanto* [उसी परिमाण में] श्रम-शक्ति के उत्पादन पर खर्च किये गये कुल मूल्य में शामिल हो जाता है।

इस प्रकार श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा के मूल्य में परिणत हो जाता है। चुनांचे वह इन साधनों के मूल्य के साथ, या इन साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा के साथ, घटता-बढ़ता रहता है।

जीवन-निर्वाह के साधनों में से कुछ—जैसे भोजन की वस्तुओं और ईंधन—का रोज़ाना उपभोग होता है, और इसलिए उनकी रोज़ाना नयी पूर्ति होती रहनी चाहिए। दूसरे साधन, जैसे कि कपड़े और फ़र्नीचर, ज्यादा समय तक चलते हैं, और इसलिए उनके स्थान पर ऐसी नयी चीज़ों की व्यवस्था काफ़ी देर के बाद ही करनी ज़रूरी होती है। सो एक वस्तु रोज़, दूसरी हर सप्ताह, तीसरी तीन महीने के बाद खरीदनी पड़ती है, या उनका भुगतान करना पड़ता है, और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का हिसाब होता है। लेकिन इन तमाम मदों में किये गये खर्चों का कुल जोड़ साल भर में चाहे जिस तरह फैलाया गया हो, वह मज़दूर की दैनिक औसत आमदनी से पूरा होता रहना चाहिए। यदि श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए जिन पण्यों की रोज़ाना आवश्यकता होती है, उनका जोड़ = क, प्रति सप्ताह आवश्यक होनेवाली वस्तुओं का जोड़ = ख और तीन महीने में आवश्यक होनेवाली वस्तुओं का जोड़ = ग और इसी

तरह आगे भी, तो इन पण्यों की रोज़ाना औसत मात्रा = $\frac{३६५ \text{ क} + ५२ \text{ ख} + ४ \text{ ग} + \text{इत्यादि}}{३६५}$ ।

मान लीजिये कि एक औसत दिन में इन पण्यों की जो मात्रा आवश्यक होती है, उसमें ६ घंटे का सामाजिक श्रम निहित होता है। तब श्रम-शक्ति में रोज़ाना आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम निहित होता है, या, दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति के रोज़ाना उत्पादन के लिए आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है। श्रम की यह मात्रा ही एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य होती है, या यूँ कहिये कि श्रम की यह मात्रा ही रोज़ाना पुनरुत्पादित होनेवाली श्रम-शक्ति का मूल्य होती है। यदि आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम तीन शिलिंग में निहित होता हो, तो एक दिन श्रम-शक्ति के मूल्य के अनुसार उसका दाम तीन शिलिंग होगा। इसलिए अगर उसका मालिक उसे तीन शिलिंग रोज़ाना में बेचना चाहे, तो उसका बिक्री-दाम उसके मूल्य के बराबर होगा। और हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके मुताबिक हमारा मित्र धन्ना-सेठ, जो अपनी तीन शिलिंग की रकम को पूँजी में बदलने पर तुला हुआ है, यह मूल्य अदा कर देता है।

मज़दूर के जिंदा रहने तथा इतने बड़े परिवार का भरण-पोषण करने के लिए ज़रूरी हो, जो मंडी में श्रम की पहले जितनी पूर्ति को बराबर बनाये रख सके।" (R. Torrens, *An Essay on the External Corn Trade*, London, 1815, p. 62.) यहाँ "श्रम-शक्ति" के स्थान पर "श्रम" शब्द का ग़लत प्रयोग किया गया है।

श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा उन पण्यों के मूल्य से निर्धारित होती है, जिनकी रोखाना पूर्ति के अभाव में मजदूर अपने शरीर में काम करने का बल फिर से नहीं पैदा कर सकता। यानी श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा जीवन-निर्वाह के उन साधनों के मूल्य से निर्धारित होती है, जो शारीरिक दृष्टि से मजदूर के लिए अनिवार्य होते हैं। यदि श्रम-शक्ति का दाम इस निम्नतम सीमा पर पहुँच जाता है, तो वह उसके मूल्य से कम हो जाता है, क्योंकि ऐसी हालत में श्रम-शक्ति को केवल पंगु अवस्था में ही कायम रखा तथा विकसित किया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक पण्य का मूल्य तो सामान्य श्रेणी का पण्य तैयार करने में खर्च होनेवाले आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है।

श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करने का यह तरीका परिस्थितियों के कारण अनिवार्य हो जाता है। उसे एक क्रूर तरीका बताना और रोस्सी की तरह रोना-पीटना बहुत सस्ती क्रिस्म की भावुकता है। रोस्सी ने कहा है कि “श्रम करने की क्षमता (puissance de travail) को उत्पादन की क्रिया के दौरान मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग करके देखना कल्पना-सृष्टि (être de raison) देखने के समान है। जब हम श्रम की या श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम मजदूर के साथ-साथ उसके जीवन-निर्वाह के साधनों की, मजदूर और उसकी मजदूरी की भी बात करते हैं”।⁴⁷ जब हम पाचन-शक्ति की बात करते हैं, तब हम पाचन-क्रिया की बात नहीं करते। उसी प्रकार, जब हम श्रम-शक्ति की बात करते हैं, तब हम श्रम की बात नहीं करते। पाचन-क्रिया के लिए अच्छे पेट के अलावा भी कुछ चीजों की आवश्यकता होती है। जब हम श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम उसे जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों से अलग नहीं कर देते। इसके विपरीत उन्हीं का मूल्य श्रम-शक्ति के मूल्य में व्यक्त होता है। यदि मजदूर की श्रम करने की क्षमता बिना बिके रह जाती है, तो उससे मजदूर को कोई फायदा नहीं पहुँचता। बल्कि तब उसे यह बात बहुत अखरेमी और प्रकृति द्वारा लादी गयी ज्यादती और क्रूरता प्रतीत होगी कि उसकी इस क्षमता के उत्पादन में जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा खर्च हुई है और आगे भी वह उसके पुनरुत्पादन में खर्च होती जायेगी। तब वह सिस्मोंदी की इस बात से सहमत होगा कि “श्रम करने की क्षमता... यदि बिकती नहीं, तो कुछ भी नहीं है”।⁴⁸

पण्य के रूप में श्रम-शक्ति की विचित्र प्रकृति का एक परिणाम यह होता है कि ग्राहक और विक्रेता के बीच में करार हो जाने पर भी श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य ग्राहक के हाथ में तुरंत नहीं पहुँच जाता। दूसरे हरेक पण्य की तरह इस पण्य का मूल्य भी उसके परिचलन में प्रवेश करने के पहले से ही निश्चित होता है, क्योंकि उसपर सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा खर्च हो चुकी होती है। लेकिन इस पण्य का उपयोग-मूल्य इसी बात में निहित है कि बाद में इस शक्ति का प्रयोग किया जाये। श्रम-शक्ति के हस्तांतरण और ग्राहक द्वारा उसके सचमुच हस्तगतकरण—या एक उपयोग-मूल्य के रूप में उसके व्यवहार में लाये जाने—के बीच समय का अंतर होता है। लेकिन जहाँ कहीं किसी पण्य के उपयोग-मूल्य की बिक्री के द्वारा रस्मी हस्तांतरण के साथ ही वह पण्य सचमुच खरीदार को नहीं सौंप दिया जाता, वहाँ

⁴⁷ Rossi, *Cours d'Économie Politique*, Bruxelles, 1842, pp. 370, 371.

⁴⁸ Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, t. I, p. 113.

खरीदार का द्रव्य साधारणतया भुगतान के साधन का काम करता है।⁴⁹ ऐसे प्रत्येक देश में, जिसमें पूंजीवादी ढंग का उत्पादन पाया जाता है, यह रिवाज होता है कि जब तक श्रम-शक्ति का करार में निश्चित समय तक, जैसे, मिसाल के लिए, एक सप्ताह तक प्रयोग नहीं कर लिया जाता, तब तक उसके दाम नहीं दिये जाते। इसलिए हर जगह श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य पूंजीपति को पेशगी दे दिया जाता है: मजदूर अपनी श्रम-शक्ति के ग्राहक को दाम पाने के पहले ही उसके उपयोग की इजाजत दे देता है, हर जगह वह पूंजीपति को उधार देता है। यह उधार महज कोई हवाई चीज नहीं होता, इसका सबूत न सिर्फ यह है कि पूंजीपति का दिवाला निकलने पर मजदूरों के पैसे अकसर डूब जाते हैं,⁵⁰ बल्कि यह भी कि उसके इससे कहीं अधिक स्थायी अनेक दूसरे नतीजे भी होते हैं।⁵¹ फिर भी द्रव्य

⁴⁹ “श्रम के दाम सदा उसके समाप्त होने के बाद चुकाये जाते हैं।” (*An Inquiry into those Principles, Respecting the Nature of Demand etc.*, p. 104.) “वाणिज्य संबंधी उधार की पद्धति उस समय आरंभ हुई, जब मजदूर-उत्पादन का वह पहला कारीगर—अपनी बचायी हुई आय के प्रताप से अपनी मजदूरी के लिए सप्ताह, पखवाड़े, महीने या तीन महीने, इत्यादि के अंत तक इंतजार करने को तैयार हो गया।” (Ch. Ganilh, *Des Systèmes d'Économie Politique*, 2ème édit., Paris, 1821, t. II, p. 150.)

⁵⁰ “मजदूर अपनी श्रम-शक्ति उधार देता है,” श्लोख कहते हैं। लेकिन वह बड़ी चतुराई के साथ यह भी जोड़ देते हैं कि मजदूर “कोई जोखिम नहीं उठाता,” सिवाय इसके कि “उसकी मजदूरी जरूर डूब सकती है... मजदूर कोई ठोस भौतिक चीज नहीं सौंपता।” (Storch, *Cours d'Économie Politique*, Pétersbourg, 1815, t. II, pp. 36, 37.)

⁵¹ एक मिसाल लीजिये। लंदन में डबल रोटी बनानेवाले दो तरह के हैं: एक तो “full priced” (“पूरे दाम वाले”), जो अपनी रोटी पूरे दामों में बेचते हैं, और दूसरे “undersellers” (“सस्ती बेचनेवाले”), जो रोटी के मूल्य से कम दाम लेते हैं। रोटी बनानेवालों की कुल संख्या का तीन चौथाई से अधिक भाग दूसरे प्रकार के रोटी वालों का है। (“रोटी बनानेवाले कारीगरों की शिकायतों, इत्यादि” की जांच करने के वास्ते नियुक्त किये गये जांच-कमिशनर एच० एस० ट्रेमेनहीर की सरकारी रिपोर्ट का पृष्ठ XXXII, लंदन, १८६२)। सस्ती रोटी बेचनेवाले, लगभग बिना किसी अपवाद के, रोटी में फिटकरी, साबुन, सज्जी, चाक मिट्टी, डर्बीशायर के पत्थरों का चूरा और इसी तरह के अन्य सुखद, पुष्टिकारक एवं स्वास्थ्यप्रद पदार्थ मिलाकर बेचते हैं। (उपरोक्त सरकारी रिपोर्ट देखिये और उसके साथ-साथ *Committee of 1855 on the Adulteration of Bread* की रिपोर्ट तथा डा० हैस्सल की रचना *Adulterations Detected*, 2nd Ed., London, 1861 भी देखिये।) १८५५ की कमिटी के सामने बयान देते हुए सर जान गार्डन ने कहा था कि “इन मिलावटों के परिणामस्वरूप रोजाना दो पाउंड रोटी के सहारे जिंदा रहनेवाले गरीब आदमी को अब पौष्टिक पदार्थ का चौथाई हिस्सा भी नहीं मिलता, और उसके स्वास्थ्य पर जो बुरा असर होता है, वह अलग है।” ट्रेमेनहीर ने कहा है (देखिये l. c., p. XLVIII) कि मजदूर वर्ग का अधिकांश इस मिलावट के बारे में अच्छी तरह जानते हुए भी इस फिटकरी, पत्थरों के चूरे, आदि को क्यों स्वीकार करता है, इसका कारण यह है कि उनकी “यह मजबूरी होती है कि उनका रोटी वाला या chandler's shop [मोदी की दूकान] उनको जैसी रोटी दे, वे वैसी मंजूर कर लें।” मजदूरों को चूंकि सप्ताह के खत्म होने पर मजदूरी मिलती है, इसलिए “उनके परिवार के लोग जिस रोटी का उपभोग करते हैं, उसके दाम वे सप्ताह के दौरान, सप्ताह खत्म होने के पहले”, नहीं अदा कर पाते। और इसके

चाहे खरीदारी के साधन का काम करे या चाहे भुगतान के साधन का, इससे पण्यों के विनिमय के स्वरूप में कोई तब्दीली नहीं आती। श्रम-शक्ति का दाम करार द्वारा तय होता है, हालांकि मकान के किराये की तरह वह कुछ समय बीतने के पहले वसूल नहीं होता। श्रम-शक्ति बेच दी जाती है, हालांकि उसका दाम बाद को ही मिलता है। इसलिए दोनों पक्षों के संबंध को साफ़-साफ़ समझने के लिए फ़िलहाल यह मानकर चलना उपयोगी होगा कि श्रम-शक्ति का जो दाम तय होता है, वह उसकी बिक्री होने पर उसके मालिक को हर बार तुरंत ही मिल जाता है।

अब हमें यह मालूम है कि इस विचित्र पण्य के—यानी श्रम-शक्ति के—मालिक को उसका ग्राहक जो मूल्य देता है, वह कैसे निर्धारित होता है। ग्राहक को बदले में जो उपयोग-मूल्य मिलता है, वह केवल उसके वास्तविक फलोपभोग में, यानी श्रम-शक्ति के उपभोग में ही प्रकट होता है। इस उद्देश्य के लिए जितनी चीज़ें जरूरी होती हैं, जैसे कच्चा माल, द्रव्य का मालिक उन सबको मंडी में खरीद लेता है और उनके पूरे मूल्य के बराबर दाम दे देता है। श्रम-शक्ति का उपभोग पण्यों के उत्पादन के साथ-साथ बेशी मूल्य का उत्पादन भी होता है। अन्य हरेक पण्य की तरह श्रम-शक्ति का उपभोग भी मंडी की सीमाओं अथवा परिचलन के क्षेत्र के बाहर पूरा होता है। इसलिए हम श्रीयुत धन्नासेठ और श्रम-शक्ति के मालिक को अपने साथ लेकर शोर-शराबे से भरे इस क्षेत्र से, जहां हर चीज़ खुलेआम और सब लोगों की आंखों के सामने

आगे ट्रेमेनहीर ने कुछ गवाहियों के आधार पर यह भी कहा है कि “यह एक जानी-मानी बात है कि इन मिलावटों के द्वारा बनायी गयी रोटी खास तौर पर इसी ढंग से बेचने के लिए बनायी जाती है”। “इंगलैंड के बहुत से कृषि-प्रधान ज़िलों में और उससे भी बड़ी संख्या में स्कॉटलैंड के कृषि-प्रधान ज़िलों में मज़दूरी पखवाड़े में एक बार और यहां तक कि महीने में एक बार दी जाती है। हर बार इतने लंबे समय के बाद मज़दूरी पाने के कारण खेतियार मज़दूर को मजबूर होकर चीज़ें उधार खरीदनी पड़ती हैं... उसे ऊंचे दाम देने पड़ते हैं, और सच पूछिये, तो वह उस दूकान से बंध जाता है, जो उसे उधार देती है। मिसाल के लिए, विल्ट्स में होर्निंघम नामक स्थान पर, जहां मज़दूरी महीने में एक बार दी जाती है, मज़दूर जो आटा किसी दूसरी जगह पर १ शिलिंग १० पेंस फ्री स्टोन [१४ पाउंड] के भाव पर खरीद सकता था, वह वहां पर उसे २ शिलिंग ४ पेंस फ्री स्टोन के भाव पर पाता है।” (*The Medical Officer of the Privy Council etc.*, 1864 की *Public Health, Sixth Report*, p. 264.) “पेजली और किल्मारनोक नामक स्थानों के कपड़ा छापनेवाले मज़दूरों ने हड़ताल करके यह बात तय करायी कि उनको महीने में एक बार के बजाय पखवाड़े में एक बार मज़दूरी दी जायेगी।” (*Reports of the Inspectors of Factories for 31st October 1853*, p. 34.) मज़दूरों द्वारा पूंजीपति को दिये जानेवाले इस उधार के एक और सुंदर परिणाम के रूप में हम इंगलैंड की बहुत सी कोयला-खानों में प्रचलित उस तरीके का जिक्र कर सकते हैं, जिसके अनुसार मज़दूर को महीने के खत्म होने तक मज़दूरी नहीं दी जाती और इस बीच वह पूंजीपति से कर्ज़ लेता रहता है, जो अकसर जिस की शक्ल में होता है, जिसके लिए खान-मज़दूर को बाज़ार-भाव से ऊंचे दाम देने पड़ते हैं (Trucksystem)। “कोयला-खानों के मालिकों का यह आम रिवाज है कि वे अपने मज़दूरों को महीने में एक बार मज़दूरी देते हैं और बीच में हर सप्ताह के अंत में उनको कुछ पैसा नक़द पेशगी देते रहते हैं। यह पैसा दुकान में दिया जाता है (यह दुकान मालिक की होती है और tommy-shop कहलाती है); वहां मज़दूर एक हाथ से पैसा लेते हैं और दूसरे हाथ से उसे वापस कर देते हैं।” (*Children's Employment Commission, 3rd Report*, London, 1864, p. 38, No. 192.)

होती है, कुछ समय के लिए विदा लेते हैं और उन दोनों के पीछे-पीछे उत्पादन के उस गुप्त प्रदेश में चलते हैं, जिसके प्रवेश-द्वार पर ही हमें यह लिखा दिखायी देता है: “कामकाज के बिना अंदर आना मना है”। यहां पर हम न सिर्फ यह देखेंगे कि पूजी किस तरह उत्पादन करती है, बल्कि हम यह भी देखेंगे कि पूजी का किस तरह उत्पादन किया जाता है। यहां आखिर हम मुनाफ़ा कमाने के भेद का पता लगाकर ही छोड़ेंगे।

जिस क्षेत्र से हम विदा ले रहे हैं, यानी वह क्षेत्र, जिसकी सीमाओं के भीतर श्रम-शक्ति का विक्रय और क्रय चलता रहता है, वह सचमुच मनुष्य के मूलभूत अधिकारों का स्वर्ग है। केवल यहीं पर स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति और बेथम महाशय का राज है। स्वतंत्रता का राज इसलिए कि प्रत्येक पण्य के, जैसे कि श्रम-शक्ति के, ग्राहक और विक्रेता दोनों केवल अपनी स्वतंत्र इच्छा के ही अधीन होते हैं। वे स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में करार करते हैं, और उनके बीच जो समझौता होता है, उसकी शकल में वे केवल अपनी संयुक्त इच्छा को क़ानूनी अभिव्यंजना देते हैं। समानता का राज इसलिए कि यहां हरेक दूसरे के साथ इस तरह का संबंध स्थापित करता है, जैसे वह पण्यों का एक साधारण मालिक भर हो, और यहां सभी समतुल्य का समतुल्य के साथ विनिमय करते हैं। संपत्ति का राज इसलिए कि हरेक केवल वही चीज़ बेचता है, जो उसकी अपनी चीज़ होती है। और बेथम का राज इसलिए कि हरेक केवल अपनी ही फ़िक्र करता है। केवल एक ही शक्ति है, जो उनको जोड़ती है और उनका एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित करती है। वह है स्वार्थ-प्रेम, हरेक का अपना लाभ और हरेक के निजी हित। यहां हर आदमी महज़ अपनी फ़िक्र करता है और दूसरे की फ़िक्र कोई नहीं करता, और क्योंकि वे ऐसा करते हैं, ठीक इसीलिए पूर्वस्थापित सामंजस्य के अनुसार या किसी सर्वज्ञ विधाता के तत्वावधान में वे सबके सब एक साथ मिलकर पारस्परिक लाभ के लिए, सर्वकल्याण और सबके हित के लिए काम करते हैं।

पण्यों के साधारण परिचलन या विनिमय के इस क्षेत्र से ही “स्वतंत्र व्यापार के सतही सिद्धांतकार” को उसके सारे विचार और मत प्राप्त होते हैं। उसी से उसको वह मापदंड मिलता है, जिससे वह एक ऐसे समाज को मापता है, जो पूजी और मज़दूरी पर आधारित है। इस क्षेत्र से अलग होने पर ही हमें अपने *dramatis personae* [नाटक के पात्रों] की आकृति में कुछ परिवर्तन दिखायी देने लगता है। वह, जो पहले द्रव्य का मालिक था, अब पूजीपति के रूप में अकड़ता हुआ आगे-आगे चल रहा है; श्रम-शक्ति का मालिक उसके मज़दूर के रूप में उसके पीछे जा रहा है। एक अपनी शान दिखाता हुआ, दांत निकाले हुए, ऐसे चल रहा है, जैसे आज व्यापार करने पर तुला हुआ हो; दूसरा दबा-दबा, हिचकिचाता हुआ जा रहा है, जैसे खुद अपनी खाल बेचने मंडी में आया हो और जैसे उसे सिवाय इसके और कोई उम्मीद न हो कि अब उसकी खाल उधेड़ी जमयेगी।